प्रेमचन्द की दलित दृष्टि

डॉ0 हरिनिवास पाण्डेय
सह–अध्येता
भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान
राष्ट्रपति निवास, शिमला–171005

प्रेमचन्द एक ऐसे कथाकार हैं जिन्होंने परतन्त्र भारत के तत्कालीन राष्ट्रीय आन्दोलनों का साथ देकर ही अपने कर्त्तव्य का पालन नहीं किया, वरन एक कलम का सिपाही बनकर उन तमाम राजनैतिक आर्थिक और सामाजिक शोषणों से जमकर लड़ाई की जिनके फलस्वरूप हमारा देश विदेशी एवं स्वदेशी दासता का शिकार था। एक और ध्यान देने की बात है कि इतिहास के आधुनिकतम अनुसंधानों ने यह प्रमाणित किया है कि भारत में किसानों का सर्वाधिक शोषण तत्कालीन अवध के इलाके में था जिसने प्रेमचन्द जैसे संवेदनशील लेखक को किसानों का सबसे बड़ा वकील बना दिया। किसान जिसके हाथों सबसे अधिक तबाह हो रहे थे, वह भारतीय जमींदारों और तालुकदारों का वर्ग था। बिहार, आसाम और मालावार में जिस प्रकार का अत्याचार नील और चाय बगान के भूपति अंग्रेज किया करते थे, हमारे जमींदार वर्ग कभी–कभी उनसे भी अधिक दारूण शोषण किया करते थे। ब्रिटिश शासन के जानलेवा करों के अतिरिक्त ये देशी साहब अपनी हर विलासिता की पूर्ति के लिए फटेहाल किसानों से अलिखित कर लिया करते थे।

प्रेमचन्द का सम्पूर्ण साहित्य शासन के शोषण का एक ऐसा जीवंत चित्र प्रस्तुत करता है जो प्रेमचंद ने अवध के इस इलाके में देखा था। उनकी अपनी स्थिति तो उस किसान से बदतर थी जो खेत जोतता था। भरी पूरी सरकारी नौकरी को उन्होंने लात मार दी और स्वतंत्रता संग्राम में कूद पड़े। प्रेमचन्द ने अपने साहित्य में जिन समस्याओं को प्रमुखता दी वे सभी समस्याएँ आज भी किसी न किसी रूप में जीवित हैं और जिसे मिटाने को हम कृत संकल्प हैं। इन सभी समस्याओं के मूल में श्रम की महिमा और सामान्य मानव की प्रतिष्ठा का प्रयास है। उनके उपन्यासों और कहानियों से यह सिद्ध होता है कि किसानों और मजदूरों से उनका गहरा तादाम्य था। हाँ उनकी दृष्टि में अधिकांश दलित मजदूर की ही श्रेणी में आते थे। अत्यन्त भावप्रवण कवि

की भाँति वे किसानों की इस स्थिति से द्रवित थे कि वस्तुतः वे अन्नदाता होते हुए भी दाने–दाने को मोहताज थे। यही कारण है कि उनके सभी उपन्यासों में कृषक समाज किसी न किसी रूप में आ ही गया है। ऐसे समाज से पढ़े लिखे लोगों की उदासीनता के कारण भी प्रेमचन्द जी काफी दुःखी थे। वे समझते थे कि अनपढ़ गंवार होकर शोषण की भट्ठी में चिरंतन जलने वाले गरीब किसानों और मजदूरों की अधोदशा के विरुद्ध पढ़े लिखे भारतीय निश्चय ही अपनी आवाज बुलन्द करेंगे। लेकिन इसके विपरीत प्रेमचन्द को यह अनुभव हुआ कि अंग्रेजी शिक्षा ने विद्या को ठगी का माध्यम बना दिया है। पढ़े लिखे लोग और भी अधिक घातक हो गए हैं। विदेशी शिक्षा ने उल्टे छुरे अपनी हजामत आप बनानी सिखा दी।

प्रेमचन्द ने तमाम समस्याओं के यथार्थ चित्रण के अतिरिक्त उनकी पारस्परिक एकता द्वारा अनेक कष्टों के उन्मूलन का समाधान भी प्रस्तुत किया है। अब प्रश्न यह उठता है कि सन् 1936 तक प्रेमचन्द ने कृषक समाज की जिन समस्याओं का चित्रण किया उनका पूर्ण समाधान आजादी के बाद क्या मिल गया? निश्चित रूप से नहीं। यदि मिल ही जाता तो विभिन्न योजनाबद्ध कार्याक्रमों को कारगर ढंग से करने का प्रयास ही क्यों करना पड़ता। अभी तक बधुआ मजदूरों, आदिवासियों दलितों, शोषितों के कष्टों की मुक्ति के लिए सरकार तरह–तरह के कार्यक्रम क्यों बनाती। वर्तमान के निर्माण के लिए जिन समस्याओं को अपने लेखन का विषय बनाया था। उनमें मिथ्या आडंबर ढ़ोंग, दहेज, सूदखोरी, महाजनी, वेश्यावृति, छुआछूत, धार्मिक प्रपंच, जमींदारी प्रथा, सामन्ती शासन, पूँजीवादी सभ्यता आदि प्रमुख थे।

प्रेमचन्द सामाजिक न्याय के लिए किसान और श्रमिकों को शोषण से मुक्त करना चाहते थे। गरीब जनता के साथ उनकी गहरी सहानुभूति थी। शोषितों के उद्धार के लिए वे सतत् प्रयत्नशील रहते थे। प्रेमचन्द शताब्दियों से पददलित, अपमानित और पीड़ित कृषकों की आवाज थे। पर्दे में कैद पद पद पर लांछित और असहाय नारी जाति की महिमा के जबरदस्त वकील थे। गरीबों बेकसों के महत्व के प्रचारक थे। अगर हमें उत्तर भारत की समस्त जनता के आचार–विचार, भाषा भाव, रहन–सहन, आशा–आकांक्षा, दुःख–सुख और सूझ–बूझ को जानना है तो हमें प्रेमचन्द से उत्तम परिचायक नहीं मिल सकता। झाोपड़ियों से लेकर महलों तक, खोमचे वाले से लेकर बैंकों तक, गाँव से लेकर सभाओं तक इतने कौशल पूर्ण और प्रामाणिक भाव से

कोई नहीं ले जा सकता। मेड़ों पर गाते हुए किसान को, ईर्ष्या परायण प्रोफेसरों को दुर्बल हृदय बेकारों को, साहस परायण चमारिन को ढ़ोगी पण्डितों को फरेबी पटवारी को, नीचाशय अमीर को देख सकते हैं और निश्चिंत होकर विश्वास कर सकते हैं जो कुछ देखा है वह गलत नहीं है।

धर्म और राजनीति के क्षेत्र में प्रेमचन्द ने परम्परावादी, दकियानूसी, रूढिवादी, अन्धविश्वासी विचारों को प्रश्रय नहीं दिया। साहित्य के माध्यम से उन्होंने जीवन के प्रति सक्रिय दृष्टिकोण उत्पन्न किया। उनकी मान्यता थी कि जिस क्षण हमारे जीवन में व्याप्त जड़ता समाप्त हो जायेगी उसी क्षण भारत हीन स्थिति का अनुभव कर स्वतंत्रता के लिए संघर्ष करेगा। स्वतंत्र होने पर भारत में नवचेतना का संचार होगा और हमारी दीनता–हीनता पराधीनता सब नष्ट हो जायेगी। प्रेमचन्द ने लिखा है – ''हमारी कसौटी पर वही साहित्य खरा उतरेगा जिसमें उच्च चिन्तन हो, स्वाधीनता का भाव हो, सौन्दर्य का सार हो, सृजन की आत्मा हो, जीवन की सच्चाईयों का प्रकाश हो जो हमें गति, संघर्ष और बेचैनी पैदा करे, सुलाए नहीं, क्योंकि अब और ज्यादा सोना मृत्यु का लक्षण है।'' साहित्य की सार्थकता के बारे में प्रेमचन्द की दृष्टि बड़ी स्पष्ट थी। ''साहित्य का आधार जीवन है, इसी नींव पर साहित्य की दीवार खड़ी होती है, उसकी अटारियाँ, मीनार और गुम्बद बनते हैं। जिस साहित्य से हमारी सुरूचि न जगे आध्यात्मिक और मानसिक तृप्ति न मिले, हममें शक्ति और गति न पैदा हो, हमारा सौन्दर्य प्रेम न जागृत हो वह साहित्य आज हमारे लिए बेकार है।''

प्रेमचन्द ने अपने अन्तिम उपन्यास गोदान में भी कुछ ऐसे जीवनादर्श स्वीकार किये हैं जो तत्कालीन भारतीय जनता के लिए नितान्त आवश्यक एवं ग्राह्य थे। उनकी ओर पुनर्जागरण के बंगीय सुधारकों ने भी उतनी गहराई से विचार नहीं किया था। हाँ, बंकिम चन्द्र के कुछ औपन्यासिक पात्र अवश्य इन उदात्त त्यागपूर्ण जीवनदर्शों को लेकर चले थे। प्रोफेसर मेहता द्वारा उन्होंने इस आदर्श को मुखरित किया है।

वह इस तत्व पर पहुँच जाते थे कि प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों के बीच जो सेवा मार्ग है चाहे उसे कर्मयोग ही कहो वही जीवन को सार्थक कर सकता है वही जीवन को ऊँचा और पवित्र बना सकता हैं सभी मनस्वी व्यक्तियों में यह त्याग की भावना छिपी रहती है और प्रकाश पाकर चमक उठती है। आदमी अगर दाम या धन के पीछे पड़ा है तो समझ लो कि अभी तक

किसी परिष्कृत आत्मा के सम्पर्क में नहीं आया। सेवाधर्म की उदात्त भावना प्रेमचन्द को भारतीय त्याग और बलिदान की परम्परा से ही प्राप्त हुई थी।

मानवतावादी दृष्टि सम्पन्न लेखक होने के कारण प्रेमचन्द की दृष्टि पुनर्जागरण के साथ उस केन्द्र बिन्दु पर टिकी रहती थी जिसमें सभी मनुष्य एक समान है ऊँच–नीच का कोई भेदभाव नहीं हैं साहित्य के माध्यम से युग के ढाँचे को बदलने का उपक्रम ही प्रेमचन्द के कथा साहित्य का प्राण हैं देश की कराहती आत्मा की अभिव्यक्ति उसके तन मन के घाव दिखाने का साहस, देश के शोषित–पीड़ित जनता के दुःख–दर्द को सहलाने की क्षमता प्रेमचन्द में हमें सबसे पहले लक्षित हुई। उनकी कला जनहितरत होकर उत्तर भारत में सर्वत्र व्याप्त हो गई थी। इसलिए प्रेमचन्द अपने युग के सर्वाधिक लोकप्रिय सबसे अधिक संवेदनशील और सबसे अधिक समर्थ कथा शिल्पी थे।

प्रेमचन्द सामंतवाद, पूँजीवाद, औद्योगिकरण और गुलामी के विरूद्ध निरंतर कलम के विपाही बनकर जूझते रहे। पाश्चात्य सभ्यता के प्रभाव को वे भारतीय जनता के लिए सांघातिक प्रभाव मानते थे। उनकी दृष्टि रूढ़ परम्पराओं पर थी उन्हें वे छोड़ने की बात बराबर करते रहे किन्तु ऊपर से ओढ़ी हुई विदेशी सभ्यता को उन्होंने कभी वरेण्य नहीं माना। जातीय जीवन और राष्ट्रीय जीवन की गतिविधियों को समग्र रूप में पूरी जागरूकता के साथ अपने साहित्य में निर्भीक भाव से चित्रित किया। प्रेमचन्द के उपन्यासों का फलक कहीं भी विशुद्ध राजनीतिक नहीं हैं उसका मूल स्वर नव्य चेतना और नवजागरण हैं राजनीति उसका एक मामूली अंग है। दूसरी भारतीय भाषाओं में किसान, गाँव और गरीब को वह स्थान नहीं मिला जो हिन्दी साहित्य में मिला है। पूँजीवादी सभ्यता और महाजनी सभ्यता के विरूद्ध जो जागरण प्रेमचन्द ने किया वह किसी भारतीय भाषा में लक्षित नहीं होता।

प्रेमचन्द ने 'कर्मभूमि' 'रंगभूमि' और 'गोदान' में वर्ग संघर्ष का जो चित्र अंकित किया है वह भारतीय साहित्य के लिए उस समय तक सर्वथा नया था। 1933 में प्रेमचन्द ने अपने भाषण में कहा था। ''दुःख, दरिद्रता, अन्याय, ईर्ष्या, द्वेष आदि मनोविकार जिनसे संसार नरक के समान हो रहा है, इनका कारण समाज का संगठन है। सोशियोलोजी के साथ साहित्य भी इसी प्रश्न को हल करने में लगा हुआ है।'' इसमें कोई सन्देह नहीं है कि उत्तर भारत में भारतेन्दु युग से

प्रेमचन्द युग तक नवजागरण की जो लहर आई वह समूचे भारत के उन्नीसवीं शताब्दी नवजागरण की लहर से अधिक प्रबल और तेज थी। प्रेमचन्द ने जिस कथा भूमि को उर्वर बनाकर उसमें नवचेतना का बीज बपन किया वह पौधा पल्लवित और पुष्पित होकर आज लहलहा रहा है।

प्रेमचन्द जीवन को दार्शनिक गंभीरता से देखने वाले लेखक नहीं है। वे सहज, मनुष्य के रूप में जीवन की समग्रता का साक्षात् करते आये हैं। समाज रचना के प्रति उनकी प्रतिक्रिया सहज के रूप में भी स्पष्ट होती रही है। प्रेमचन्द अपना पक्ष चुनते हैं वे अपने दृष्टिकोण के लिए अपेक्षित मूल्य देना चाहते हैं। उन्होंने केवल प्रिय सत्य नहीं कहा है अप्रिय सत्य भी कहा हैं वे विवादास्पद भी रहे हैं उन्हें विरोध करना और सहना पड़ा है। प्रेमचन्द कहते हैं– हिन्दुस्तान का उद्धार हिन्दुस्तान की जनता पर निर्भर है। 'जनता' शब्द का उनके लिए विशेष अर्थ होता है। जनता उनके लिए कोई अर्मूत शब्द नहीं हैं उसमें किसान, मजदूर, अध्यापक, छात्र, युवक स्त्रियाँ सभी आते हैं जो कहीं न कहीं शोषण के दुष्चक्र से प्रभावित हैं। प्रेमचन्द ने स्वार्थों के उस टकराव पर सीधे चोट की है जिसके एक ओर जमींदार और पूँजीपति हैं दूसरी ओर किसान मजदूर। काँग्रेस में मध्यवर्गीय संस्कार पूँजीवादी हितों के साथ आते हैं, इस पर उनकी दृष्टि बिल्कुल साफ रही है। प्रेमचन्द के मन में हिन्दुस्तानी संस्कृति की अपनी पहचान रही है, जो संकीर्ण आग्रह में बाधक रहे हैं उनकी आलोचना प्रेमचन्द के वैचारिक और रचनात्मक साहित्य में एक ही तरह स्पष्ट है।

प्रेमचन्द की दृष्टि साहित्य धर्म, शिक्षा, संस्कृति, समाज, भाषा जैसे अनेक क्षेत्रों तक फैली हुई है। समसामयिक दबाव से लिखी गई उनकी टिप्पणियाँ भी भारतीय समाज को दूर तक रास्ता दिखाने वाली हैं। पूँजीवाद की अमानवीय सम्भावनाओं से उन्हें जूझना था इसलिए अलवर रियासत के नरेश की प्रार्थना ठुकरा दी और सिनेमा जैसी लक्ष्य विरोधी दिशा में ले जाने वाली, आत्मा की आवाज दबाने वाली कमाई पर लात मार दिया। उनका विश्वास उत्तरोत्तर दृढ़ होता गया कि ईश्वर हो या न हो पर समाज में व्याप्त विषमता और अमानवीय उत्पीड़न में उसका कोई हाथ नहीं हैं यह सब सामाजिक दुर्व्यवस्था का परिणाम है हमें इनसे समाज को मुक्ति

दिलाने के लिए लड़ना है क्योंकि अन्ततः स्थायी आत्महित भी उसी में है। महाजनी सभ्यता में उन्होंने समाज को एकदम नंगा कर दिया।

मुँशी प्रेमचन्द की वैचारिक चेतना सतत् विकासशील रही है। वे कभी एक विचार अथवा दर्शन से बंधे हुए नहीं रहे। उन्होंने अपने समय के प्रचलित प्रायः सभी सिद्धान्तों का गंभीर अध्ययन किया था और उनका अंधानुकरण न कर पर्याप्त सजगता एवं समझदारी के साथ उपयोग किया था। मानवता के विकास में जो वस्तु उन्हें सहायक प्रतीत होती उसका वेहिचक चयन कर लेते थे। उनकी वैचारिक चेतना में देशी एवं विदेशी दोनों तरह के जीवन दर्शनों का अद्‌भुत सामंजस्य हैं प्रेमचन्द के साहित्य को देखने से स्पष्ट होगा कि वे अपने सृजनात्मक दौर के प्रथम चरण में गाँधीवादी विचारधारा एवं राष्ट्रीयता की भावना से प्रभावित थे परन्तु क्रमशः वे इन विचारों से दूर होते–होते मार्क्सवादी विचारधारा एवं समाजवादी चेतना के करीब पहुँच जाते हैं। उनकी चेतना कहीं भी किसी बाद विशेष से आक्रान्त नहीं हुई है। प्रारंभ में वे देश की स्वतंत्रता एवं पराधीनता की चेतना से अनुप्रेरित हो देश प्रेम की भावना से अपूरित पात्रों का सृजन करते हैं और बाद में चलकर परतंत्रता से उत्पन्न होने वाली विभिन्न सामाजिक एवं राजनीतिक समस्याओं का चित्रण करने लगते हैं।

प्रेमचन्द पराधीनता के दृष्पारिणामों के विभिन्न आयामों का सन्धान करते हुए वे उसकी मूल में पहुँच कर जिस सामाजिक सत्य का दर्शन करते हैं बहुत ही चौंकाने वाला है। उन्हें लगता है कि देश की स्वतंत्रता के बावजूद समाज के भीतर समाहित शोषण की गहरी जड़ों को निकालना अत्यन्त कठिन है। वे देख रहे थे कि इन कुप्रवृतियों को समाप्त करने में गाँधीवाद और सुधारवाद असफल हो रहे हैं। मार्क्सवाद के सिद्धान्त कुछ सीमा तक इन समस्याओं के समाधान में सहायक प्रतीत होते हैं। उनकी वैचारिक यात्रा की शुरुआत स्वाधीन चेतना से शुरु होकर विश्वबन्धुत्व एवं समता के सिद्धान्तों तक विकसित हुई है। इनकी गत्यात्मक वैचारिक चेतना के व्यापक फलक के किसी विशेष पक्ष को ही देखने के कारण विभिन्न आलोचक उन्हें 'बाद विशेष' के कटघरे में आबद्ध करने का असफल प्रयास करते हैं। यही कारण है कि कोई उन्हें गाँधीवादी कहता है तो कोई मार्क्सवादी कोई आदर्शवादी कहता है तो कोई यर्थाथवादी।

इसके अतिरिक्त कोई उन्हें नैतिकतावादी, आशावादी, संशयवादी, अराजगतावादी, संशोधनवादी, समझौतावादी, सुधारवादी, आदर्शोन्मुख यर्थाथवादी एवं यथार्योन्मुखवादी आदि कहते है।

वस्तुतः तमाम फतवे प्रेमचन्द को सम्पूर्ण वैचारिक चेतना के गत्यात्मक स्वरूप को ठीक से न समझ सकने के कारण दिये गये हैं प्रेमचन्द मनुष्य की समनता के पक्षधर थे। वे किसी भी प्रकार के शोषण एवं अन्याय के विरोधी थे। उन्होंने बहुत पहले ही प्रेमाश्रम में बलराज के माध्यम से अपने विचार को स्पष्ट किया है। ''मेरा सिद्धान्त है कि मनुष्य को अपनी कमाई खानी चाहिए। किसी को यह अधिकार नहीं कि वह दूसरों की कमाई को अपनी जीवनवृत्ति का आधार बनाए।'' दरअसल उनकी वैचारिक चेतना के कई स्तर हैं। पहले स्तर पर वे राष्ट्रीयता की भावना से प्रभावित हो देश भक्ति से युक्त रचनाएं की जिसका लक्ष्य ब्रिटिश साम्राज्य की समाप्ति एवं देश की आजादी थी। ब्रिटिश साम्राज्य के बढ़ते शोषण को स्पष्ट करने के लिए जब वे अगला कदम बढ़ाते हैं तो देखते है कि उनके एजेंट देशी नरेश एवं जमींदार किसानों एवं खेतिहर मजदूरों का भयंकर शोषण करते हैं। अतएव प्रेमचन्द ने इस शोषण तन्त्र को अपने उपन्यास का मुख्य प्रतिपाद्य बनाया फलतः उनके कथा साहित्य में इस वर्ग के चरित्रों का काफी अच्छा चित्रण किया है।

प्रेमचन्द देश की स्वतंत्रता के बहुत बड़े समर्थक थे। देशप्रेम की भावना उनमें पर्याप्त मात्रा में भरी थी। देश की स्वतंत्रता, देशप्रेम एवं मुक्तिसंग्राम की चेतना प्रायः उनकी सभी रचनाओं में मिलती है परन्तु इस दृष्टि से प्रेमाश्रम, रंगभूमि, कायाकल्प, गबन एवं कर्मभूमि का विशेष स्थान है। रंगभूमि का सूरदास गाँधी जी का प्रतिरूप है। विनय में पंडित नेहरू की और सौफिया में एनीबेसेन्ट की झलक मिलती है। उन्होंने सन् 1930 अप्रैल के हंस में लिखा था– स्वाधीन बनकर आधी खा लेना गुलामी की पूरी से कहीं अच्छा है। इसी समय बनारसीदास चतुर्वेदी को पत्र लिखा था, कि मेरी एक ही महत्वाकांक्षा है और वह यह कि मेरा देश आजाद हो मरने से पहले मैं जरूर कुछ किताबें लिख जाना चाहता हूँ पर उनका भी ध्येय देश की आजादी ही है।

ब्रिटिश सरकार की सामाज्यवादी नीति एवं आर्थिक शोषण की प्रणाली का विरोध प्रेमचन्द ने जमकर किया हैं। अंग्रेज किस प्रकार देशी राजाओं, जमींदारों एवं महाजनों के माध्यम से देश

की गरीब जनता का खून चूस रहे थे। अपनी रचनाओं मे वे इसका पर्दाफाश करते हैं। ये लोग किसानों पर भयंकर से भंयकर अत्याचार करके पूरी लगान वसूल करते थे। दलितों एवं किसानों को जमीन के लगान के अतिरिक्त समय–समय पर जमीदार को सगुन, चन्दा बेगारी एवं डाँड़ आदि भी देना पड़ता था। किसान जमींदारों के अत्याचार से बचने के लिए महाजनों के पास कर्ज लेने जाते थे। जो एक बार उनके चंगुल में फँस जाता उसकी पीढ़ी दर पीढ़ी उससे मुक्त नहीं हो पाती थी। महाजन की जमींदारी से साँठ–गाँठ रहती थी और वह रूपया वसूल करने में उसकी हर तरह से सहायता करता था। वेचारा किसान इन तेहरी शोषण की दीवारों में बुरी तरह पिसता जा रहा था, जिसकी अत्यन्त कारूणिक एवं धार्मिक गाथा प्रेमचन्द के कथा साहित्य में विभिन्न कोणों से चित्रित की गई है। 'सवा सेर गेहूँ' कहानी और 'गोदान' उपन्यास में इस तरह के शोषण का सर्वोत्तकृष्ट उदहरण मिलता है।

प्रेमचन्द ग्रामीण जीवन एवं परिवेश से भली भाँति परिचित थे। अतः उनके वर्णन में पर्याप्त सजीवता एवं विश्वसनीयता मिलती है। उनके पात्र काल्पनिक जगत के पात्र न होकर वास्तविक जगत के जीते–जागते इन्सान प्रतीत होते हैं। जिन्हें हम अपने आस–पास विभिन्न रूपों में देख सकते हैं किसानों के शोषण तन्त्रों के भंयकर नीति का परिणाम यह होता गया कि गरीब किसान धीरे–धीरे भूमिहीन होकर सर्वहारा होता जा रहा था। इस बदलाव में उन किसानों की हृदय विदारक पीड़ा का भी मार्मिक चित्रण प्रेमचन्द ने किया हैं उपर्युक्त सभी चेतनाएँ एवं स्थितियाँ प्रेमचन्द के गाथा सांसर में सर्वत्र दिखाई पड़ती है।

प्रेमचन्द को जैसी सफलता दलितों, किसानों एवं विविध प्रकार की सामाजिक विसंगतियों के वर्णन से मिलती है वैसी सफलता शोषण तंत्रों से मुक्ति मार्ग बतलाने में नहीं मिलती। इसका मूल कारण यह है कि वे इस क्षेत्र में संशयग्रस्त थे। उन्हें अपने लक्ष्य के बारे में तनिक भी सन्देह नहीं था। अतः वे उसके स्वरूप एवं कारणों का अच्छा चित्र खींच सके हैं, परन्तु लक्ष्य प्राप्ति के साधन के संदर्भ में वे निश्चयात्मक रूप से किसी मार्ग का संदेश नहीं दे सके हैं। यही कारण है कि वे कभी गाँधीवाद के शरण में जाते हैं तो कभी मार्क्सवाद के शरण में। उनकी छटपटाहट एवं बेचैनी के परिणाम स्वरूप विद्रोही पात्रों की सर्जना होती है। परन्तु उनके चरित्र का सम्यक विकास नहीं हो पाता है। उन्होंने सेवा सदन के चैतू प्रेमाश्रम के बलराज एवं मनोहर

कायाकल्प के कृषक मजदूरों के हिंसात्मक विद्रोह एवं चौधरी की चेतना, कर्मभूमि में किसानों एवं पुलिस के बीच हुए संघर्ष व 'गोदान' के गोबर के चरित्र का सम्यक विकास वे नहीं कर पाये हैं इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रेमचन्द की वैचारिक चेतना, राष्ट्र, प्रेम, एवं गाँधीवाद के प्रभाव से प्रारंभ होकर क्रमशः विविध रूपों में विकसित होती हुई शोषण सामाजिक व्यवस्था एवं मार्क्सवाद के करीब पहुँचाती हैं ग्रामीण जनजीवन एवं परिवेश को उन्होंने अपनी लेखनी का मुख्य विषय बनाया है। जनता की कराहती अवाज एवं छटपटाती स्थिति की मार्मिक व्यंजना की है।

प्रेमचन्द की दलित दृष्टि अथवा दलित विमर्श को लेकर हिन्दी साहित्य के लेखकों में काफी विवाद हैं प्रेमचन्द के जीवन काल के दौरान भी उनके साहित्य को लेकर अनेक तरह का विवाद उठता रहा है उनके जीवन काल में ही 'घृणा का प्रचारक', 'ब्राह्मण विरोधी', 'प्रचारवादी', 'विदेशी साहित्य का नकलची' इत्यादि कहा गया। विरोधियों द्वारा किए गये सारे दुष्प्रचार का जबाब प्रेमचन्द ने तो नहीं दिया लेकिन उनके प्रशंसक पं0 बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' ने कहा था ''प्रेमचन्द के निन्दक मर जाएँगें, लेकिन प्रेमचन्द जीवित रहेंगे। आज कौन पं0 ज्योति प्रसाद निर्मल या ठाकुर श्री नाथ सिंह या ऐसे कुछ प्रेमचन्द के धुर विरोधी लोगों का नाम जानता है। जिन्होंने प्रेमचन्द के जीवन काल में बहुत निचले स्तर पर आक्रमण किए थे। लेकिन प्रेमचन्द पर आक्रमणों का सिलसिला पूरी तरह समाप्त कभी नहीं हुआ। उनकी मृत्यु के साठ–सत्तर साल बाद उनके बहुचर्चित उपन्यास 'रंगभूमि' को दलित लेखकों द्वारा सार्वजनिक रूप से जलाया गया और उन्हें दलित विरोधी कहा गया। इन तमाम आरोपों के साथ एक ओर प्रेमचन्द को या तो साहित्य से खारिज करने या उनका कद छोटा बनाने की कोशिश की जाती है। डॉ0 धर्मवीर ने उन्हें 'सामन्त का मुँशी और 'जार कर्म का दोषी करार दिया हैं कुछ साल पहले उन्हें 'सूदखोर' आदि उपाधियों से विभूषित किया गया तथा दूसरी ओर उन्हें बेहद गरीब, बेचारा मास्टर लेकिन जनता का महान लेखक आदि रूप में संकलित किया जाता है। 1980 में उनकी जन्मशती पर ढेरों कार्यक्रम आयोजित किए गए फिर उनकी सवा सौंवी जयन्ती पर भी देश भर में तमाम कार्यक्रम सम्पन्न किए गये। इसी दौर में दलित लेखकों द्वारा प्रेमचन्द का विरोध 'रंगभूमि' की प्रतियाँ जलाकर या ऊल–जलूल टिप्पणी की गई।

प्रेमचन्द के शताब्दी वर्ष एवं सवा सौंवी जयन्ती के अवसर पर तमाम परस्पर विरोधी बातें लिखी हुई पढ़ने को मिली। किसी ने कहा वे प्रासंगिक हैं किसी ने कहा नहीं है। किसी ने कहा बहुत दरिद्र थे, किसी ने कहा नहीं, उन्होंनें बेटी की शादी में दहेज दिया था, उनका बैंक एकाउन्ट था जिसमें मरणोपरान्त कई हजार रूपये शेष था। किसी ने कहा वे व्यवहार कुशल नहीं थे। किसी ने कहा वे बहुत व्यावहारिक थे। किसी ने कहा वे मूलतः उूर्द के लेखक थे, किसी ने कहा वे आर्यसमाजी विचारों के थे। किसी ने कहा उन्हें अच्छी चीजें खाने का शौक था, पेट की बीमारी थी, किसी ने कहा उनका जीवन घोर आर्थिक संघर्ष में बीता। हर शताब्दी के अक्सर पर ऐसा ही होता है। गालिब की शताब्दी पर किसी ने 'गालिब बेनकाब किताब लिखी। तो रवीन्द नाथ टैगोर की शताब्दी पर 'रवीन्द्र नाथेर मानसी'। शरतचन्द्र की शताब्दी पर तो उन्हें देवता से लगाकर 'चरित्रहीन' तथा प्रेमचन्द की शताब्दी पर 'प्रेमचन्द बेनकाब' भी लिखने की कोशिश की गई। कबीर की मृत्यु के बाद हिन्दू और मुसलमान दोनों उन्हें अपना कहते थे। पर हम लोग तो सर्वसाधारण पाठक हैं उन्हें मूलस्रोत की ओर जाना चाहिए। समीक्षकों के कहने से उनके उधार लिये हुए चश्में से चाहे प्रेमचन्द हों या अन्य कोई महान लेखक उन्हें नहीं देखा चाहिए। गोस्वामी तुलसीदास से शब्द उधार लेकर कहा जाय तो ''जाकी रही भावना जैसी प्रभु मूरत देखी जिन तैसी'' वाली बात चरितार्थ होती है।

प्रेमचन्द या उनके साहित्य का दोष नहीं है हमारे आजकल के समीक्षकों की दृष्टि एकांगी पक्षपातपूर्ण दूषित और पक्ष सत्य को ही पूर्ण सत्य मानने वाली हो गई है। हमारे यहाँ सभी गुण दोष दोनों का सम्यक विचार करके सन्तुलित दृष्टि को समीक्षा कहा जाता था। इसलिए पहले चलता था शब्द सम+आलोचना=समालोचना। 'समता' का आग्रह साम्यवादियों में है पर केवल 'आलोचना' बची रह गई है। यहाँ तक कि समकालीनों को भी समग्र दृष्टि से देखने का कष्ट लोग नहीं करते। प्रेमचन्द भी आखिर एक इन्सान थे। उनमें भी कमजोरियाँ रही होगी। सभी लेखन उन्होंने कोई 'मिशन' या क्रसेड़ की भावना से नहीं लिखा। वे 'कलम के मजदूर' अधिक थे, 'कलम के सिपाही' भी कभी कभी हो जाते थे। आजकल के दलित साहित्य के समीक्षकों की दृष्टि और आलोचना पद्धति के बारे में कुछ भी कहना व्यर्थ है क्योंकि जब दलित ही दलित के बारे में लिख सकता है तो इस साहित्य के अनुसार गैर दलित लेखकों द्वारा

दलितों के ऊपर किया गया लेखन उनके अनुसार मात्र 'समानुभूति का ही साहित्य' होकर रह जाता है। खैर जो भी है प्रेमचन्द दलितों के ही लेखक नहीं थे वह दबे कुचले, किसानों मजदूरों तथा सम्पूर्ण समाज के लेखक थे इससे उनकी महत्ता पर कोई प्रश्नचिन्ह नहीं लगता है। उनके मूल्य या आदर्श मानव मात्र की बेहतरी और बराबरी के है। वे कहीं भी एक जाति को दूसरी जाति से अधिक या एक धर्म को दूसरे धर्म से अधिक श्रेष्ठ सिद्ध करने के लिए अपने प्रिय की प्रशंसा और अपने आलोच्य की निन्दा के चक्कर में नहीं पड़ते। इसलिए प्रत्येक चरित्र उनके लिए एक नई दुनिया हैं जिसे वे खोजते हैं। किसी भी लेखक में किसी भी तरह के विमर्श देखने के लिए सबसे प्रमुख आधार उसका लेखन है। यदि उसका लेखन सृजनात्मक व चिंतनपरक दोनों लेकिन मुख्य तौर पर सृजनात्मक। दूसरा आधार है उसका जीवन–व्यवहार। व्यवहारिक जीवन में भारत के ही नहीं दुनिया के लेखकों के जीवन में उस सोच को अपनाने के स्तर पर अनेक अन्तर्विरोध उभर आते हैं। लेखक के जीवन (निजी) और उसके लेखन के जीवन में जमीन आसमान का फर्क है। एक लेखक का जीवन लगभग 80 से 100 वर्ष में सिमट जाता हैं लेकिन उसके लेखन का जीवन, दर्शकों, सदियों व कई बार सहस्राब्दियों तक भी चल सकता है और प्रेमचन्द के लेखन का जीवन उनके व्यक्तिगत जीवन के प्रति तमाम तरह की प्रतिक्रियाओं के बावजूद काफी दीर्घकालिक रहेगा। लेखक के व्यक्तिगत जीवन सम्बन्धी प्रमाणिकता की तलाश उनके जीवनकाल में ही अधिक सार्थक होती है। किसी भी लेखक की मृत्यु के पश्चात् उसके जीवन की घटनाओं पर प्रतिक्रियाएँ एक हद तक निरर्थक प्रयास है। अधिक से अधिक उनका महत्व केवल एकेडमिक स्तर तक सीमित रहता है।

उपन्यास सम्राट मुँशी प्रेमचन्द के ऊपर जार कर्म के आरोप लगाए भी जाएँ तो विश्व की कोई भी अदालत मृतव्यक्ति पर मुकदमा चलाने की इजाजत नहीं देती और जब तक किसी भी व्यक्ति पर लगे आरोप को किसी न्यायालय द्वारा सिद्ध न कर दिया जाय तब तक उन आरोपों का अपराधी उसे नहीं घोषित किया जा कसता। हाँ, लेखक का लेखन सदैव पाठकों/आलोचकों की कचहरी में पड़ताल के लिए उपलब्ध रहता है और वह एक ऐसी प्रामाणिक सामग्री है जिससे कोई भी जीवित या मृत लेखक किसी भी तरह मुन्किर नहीं हो सकता केवल उस सामग्री की व्याख्या से जीवित अवस्था में वह अपनी सहमति असहमति व्यक्त कर सकता है।

प्रेमचन्द की दलित दृष्टि को उनके जीवन से नहीं उनके लेखन से ही व्याख्यायित किया जाना जरूरी है और सही तथा वस्तुगत भी। उनके जीवन में बार–बार झाँकना कई बार अपनी ही दृष्टि की सीमाओं का ढ़िढोरा पीटना सिद्ध हो जाता हैं इसलिए प्रेमचन्द का जीवन चाहे जैसा भी था और प्रायः वह उनके लेखन के काफी हद तक अनुरूप ही था। अतः उनके लेखन को ही उनकी दलित दृष्टि के संदर्भ में जानने का आधार बनाया जाना चाहिए प्रेमचन्द ने लगभग 35 वर्ष के अपने लेखन काल में विपुल मात्रा में साहित्य रचा है, जिसमें सृजनात्मक और चिन्तन परक दोनों तरह का साहित्य शामिल हैं प्रेमचन्द ने करीब पन्द्रह उपन्यास, 250 के लगभग कहानियाँ, तीन नाटक कुछ बच्चों के लिए लेखन के अतिरिक्त अनुवाद– अहंकार (अनातोले फ्रांस), गाल्सवर्दी के तीन नाटक, फिसाना ए आजाद का लिप्यं तरण (आजाद कथा) के साथ–साथ 'विविध प्रसंग' के तीन खण्डों में आठ सौ के करीब लेख, समीक्षा टिप्पणियाँ तथा 'चिट्ठी–पत्री' के दो भागों में पाँच सौ साठ से ऊपर पत्र शामिल है। दुलारे लाल भार्गव एवं कुछ अन्य व्यक्तियों से उनके पत्र मिले तो यह संख्या हजार का आँकड़ा पार कर जाती। प्रेमचन्द के जीवन व लेखन पर बहुत सारी पुस्तकें हिन्दी और उर्दू में छप चुकी है व छप रही हैं। लेकिन उनका जीवन वृत्त जानने के लिए उनके अपने 'जीवन सार' या 'मेरी पहली रचना' के अलावा उनकी पत्नी शिवरानी देवी रचित 'प्रेमचन्द घर में', पुत्र अमृत राय रचित 'कलम का सिपाही' व मदनगोपाल रचित 'कलम का मजदूर' ही ज्यादा महत्वपूर्ण है। अमृत राय और मदन गोपाल दोनों ने लगभग साथ–साथ प्रेमचन्द जी की जीवनी लिखी। दोनों लेखकों की जीवनियों में विवरण का अद्‌भूत साम्य मिलता है। लेकिन मदन गोपाल की जीवनी में श्रद्धा कम तथ्यों व घटनाओं का विवरण अधिक वस्तुगत है।

प्रेमचन्द के कथा साहित्य में अभिव्यक्त दलित विमर्श से ही हिन्दी में अधिकांश विवाद पैदा हुआ है। उनकी कहानी 'कफन' पर दलित विरोधी होने का आरोप लगाया जाता है 'कफन' कहानी पर यह आरोप लगने से पूर्व सर्व प्रथम हंसराज रहवर ने इस पर प्रगतिवाद विरोधी कहानी होने का आरोप लगा दिया। दलित साहित्य पर हुई चर्चा में 'कफन' को 'दलित विरोधी' कहानी कहा गया।

'रंगभूमि' उपन्यास के छपने तक से लेकर भारतीय दलित साहित्य अकादमी द्वारा 2004 में सार्वजनिक रूप से उसकी प्रतियाँ जलाए जाने तक प्रायः प्रशंसा ही हुई है। प्रेमचन्द के जीवन काल में 'रंगभूमि' को ही उनका सर्वश्रेष्ठ उपन्यास माना जाता रहा है, गोदान से भी बढ़कर। प्रेमचन्द की मृत्यु के पश्चात् 'गोदान' को उनकी ही नहीं, हिन्दी का सर्वश्रेष्ठ औपन्यासिक कृति माना गया।

आलोचकों में 'रंगभूमि' उपन्यास की प्रशंसा में उसके साहित्यिक गुणों के साथ–साथ पहली बार एक दलित को उपन्यास का नायक बनाने को भी सराहनीय समझा गया। उपन्यास छपने के करीब 80 वर्ष बाद दलित नायकत्व स्थापित करने वाले उपन्यास को सिर्फ इस आधार पर 'दलित विरोधी' कहा गया कि उसमें सूरदास का उल्लेख जातिवाचक नाम के साथ किया गया हैं भारत सरकार ने हाल में बने उस कानून का उल्लंघन बताया जिसके अनुसार किसी व्यक्ति को अपमानित करने के लिए उसकी जाति का उल्लेख नहीं किया जा सकता। इस कानून का संदर्भ उच्च जाति से सम्बन्धित उन वर्चस्ववादी लोगों से हैं जो अपने यहाँ काम करने वाले मजदूरों या मातहतों को उनकी जाति का नाम लेकर अपमानित करते हैं जिसका बड़ा ही मार्मिक वर्णन ओम प्रकाश वाल्मीकि की आत्मकथा 'जूठन' में मिलता है। रंगभूमि के किसी भी पाठक या आलोचक को प्रेमचन्द द्वारा अपने किसी पात्र को ऐसे नजरिए से पेश करने की गवाही नहीं मिल सकती। प्रेमचन्द ने 'रंगभूमि' उपन्यास के नायक 'सूरदास' की जाति चमार होने का स्पष्ट उल्लेख करके भी उसे इतना सम्माननीय पात्र बनाया है कि तथाकथित ऊँची जातियों के लोग उसकी कुर्बानी के सामने बौने नज़र आते हैं।

इसी तरह प्रेमचन्द के सर्वाधिक प्रसिद्धि प्राप्त उपन्यास 'गोदान' के 'सिलिया–मातादीन' प्रसंग में भी आक्रामक ढंग से मातादीन के मुँह में हड़डी डालकर उसे चमार बनाया जाता है और कैसे पं0 दातादीन को चमारिन स्त्री सिलिया को उनके पुत्र द्वारा भोग्या समझे जाने पर दण्डित किया जाता है। इससे भी प्रेमचन्द दलित विरोधी न होकर काफी सशक्त दलित समर्थक का ही उभरता है। उपन्यास की अन्य प्रमुख पात्र कुर्मी स्त्री धनिया का किरदार भी प्रेमचन्द ने ऐसी प्रखर और जागरूकता के रूप में चित्रित किया है कि जागरूक स्त्री उसके सामने उपन्यास के सभी पुरुष पात्र बौने लगते हैं।

'प्रेमाश्रम' उपन्यास में अछूतों से बेगार लिए जाने व किसानों द्वारा भी उनसे अच्छा बर्ताव न किए जाने का चित्रण हुआ है। 'कायाकल्प' में दलितों द्वारा बेगार करावाए जाने की प्रथा के प्रतिरोध के स्वर मुखरित हुए है। 'कायाकल्प' में प्रेमचन्द ने पहली बार चमारों के लिए मजदूर शब्द का इस्तेमाल किया हैं 'कर्मभूमि' उपन्यास में प्रेमचन्द ने दलितों के लिए अत्यन्त संवेदनशील मुद्दे मन्दिर –प्रवेश की ही समस्य नहीं उठाई बल्कि दलित कौम के संगठित होकर संघर्ष करने का भी विस्तार से चित्रण किया हैं इस उपन्यास में दलित समस्याओं व संघर्षों का चित्रण व्यापक रूप में किया है।

'गबन' उपन्यास में प्रेमचन्द ने देवीदीन खटीक पात्र के रूप में राष्ट्रीय आन्दोलन में दलितों के योगदान को रेखांकित किया हैं 'गबन' के दलित पात्र अपने को निम्न जाति न समझ कर अपने जाति गौरव का परिचय भी देते हैं। उपन्यासों के अतिरिक्त दलित जीवन को मार्मिक रूप से चित्रित करने वाली प्रेमचन्द की करीब पचास कहानियों में उनकी दलित दृष्टि को देखा जा सकता है। इन कहानियों में अधिक चर्चित कहानियाँ है– 'सद्गति', 'ठाकुर का कुआँ, 'मन्दिर', 'मंत्र, 'घासवाली', सवासेर गेहूँ, 'शद्रा', 'कफन', 'देवी, इत्यादि। 'कफन' को यद्यपि दलित विरोधी या प्रगतिवाद विरोधी कहा गया है लेकिन इस कहानी को वस्तुगत ढंग से अध्ययन से ऐसी कोई लेखकीय भावना नजर नहीं आती। एक रूपक के माध्यम से लेखक ने 'कफन' कहानी में वर्चस्ववादी या शोषक वर्गों द्वारा गरीब व दलित वर्गों के क्रूर शोषण का वर्णन कथित निठल्ले पात्रों द्वारा करवाया गया है गोर्की व लशन की कहानियों में भी ऐसे पात्र मिलते हैं और वहाँ लेखकीय संवेदना अपने ऐसे ही निठल्ले या चोर पात्रों से ही जुड़ी होती है।

प्रेमचन्द के सर्वाधिक चर्चित उपन्यास 'गोदान' के बाद दूसरा चर्चित उपन्यास 'रंगभूमि' है। 'रंगभूमि' उपन्यास पर कुछ वर्षों पूर्व गलत सन्दर्भों में विवाद उठता रहा है। दलित साहित्य के नाम पर एक स्वयंभू संगठन ने इसकी प्रतियाँ जलाई। जिसका विरोध प्रतिष्ठित लेखकों द्वारा किया गया। 'रंगभूमि' उपन्यास को पढ़ते हुए जो बात सबसे ज्यादा हमारा ध्यान खींचती हैं वह है इस उपन्यास में व्यक्त प्रबल राष्ट्रीय चेतना। पूरा उपन्यास राष्ट्रीय सम्मान और अस्मिता की भावना से ओत–प्रोत हैं उपन्यास में चित्रित भारतीय जनता का संघर्ष बहुत स्पष्ट दिशा नहीं ले

पाता लेकिन अंग्रेज सरकार और उसकी संवेदनहीन अफसरशाही की प्रेमचन्द ने जमकर आलोचना की है।

'रंगभूमि' में राष्ट्रीय संघर्ष के प्रतिनिधि प्रतीक के तौर पर दलित और स्त्री चरित्र सबसे सशक्त रूप में उभरते हैं। पाण्डेयपुर (वाराणसी) गाँव के संघर्षशील लोगों में सूरदास चमार दलित वर्ग से सम्बन्धित है तो भैरो पासी और बजरंगी अहीर हैं। स्त्री चरित्रों में सुभागी और सोफिया है। सुभागी भैरो की पत्नी है की चारित्रिक दृढ़ता सोफिया से भी आगे है। 'सूरदास' अपनी चारित्रिक दृढ़ता में 'रंगभूमि' के सभी पात्रों को पीछे छोड़ देता है और अपने आत्मत्यागी और कुर्बानी भरे जज्बे से अपने दुश्मनों को भी सिर झुकाने के लिए मजबूर कर देता है। जिन लोगों ने सूरदास को 'चमार' कहने पर आपत्ति की है क्या उन्हें इतनी भी समझ नहीं कि सूरदास को प्रेमचन्द किस तरह के चमार रूप में चित्रित किया है? 'रंगभूमि' में प्रेमचन्द ने सूरदास का चरित्र जिस रूप में चित्रित किया है, उससे उन्हें गाँधीवादी तो अनेक लोगों ने कहा है, लेकिन वास्तव में सूरदास, सन्त रविदास के आधुनिक प्रतिरूप में उभर कर सामने आता हैं सन्त रविदास की तरह सूरदास को अपने चमार होने की आत्मग्लानि नहीं है, बल्कि उसे अपनी इंसानियत पर गर्व है, न सिर्फ उसे उसके दुश्मनों तक को जिन्होंने सूरदास को मौत की गोद में पहुँचाया वे भी सूरदास की इंसानियत के सामने नतमस्तक होते है। सन्त रविदास के सामने उस समय के राजा–रानियाँ सभी सिर झुकाते थे और सूरदास भी अपने नैतिक बल से राजा–महाराजा, पूँजीपति, अंग्रेज, अफसरों तक को सिर झुकाने पर मजबूर कर देता है। सूरदास का चरित्र देखकर यह शेर याद स्वतः आ जाती है।

'जिस धज से कोई मकतल पे गया, वो शान सलामत रहती है।
यह जाँ तो आनी जानी है, इस जाँ की तो कोई बात नहीं।।''

सूरदास का जैसा वर्णन प्रेमचन्द ने 'रंगभूमि' में किया है, उसे अगर जातिगत शब्दावली में भी देखना हो तो यही कहा जायेगा कि सूरदास एक ऐसा चमार है जिससे बड़े से बड़े 'पण्डित', ब्राह्मण, ठाकुर केवल ईर्ष्या कर सकते हैं। उसके जैसा त्याग और सम्मान प्राप्त नहीं कर सकते। 1925 में ही प्रेमचन्द ने 'रंगभूमि' उपन्यास के सूरदास के माध्यम से दलित विमर्श की शुरुआत कर दी थी। प्रेमचन्द का यह नजरिया लगभग सात दशक तक उपेक्षित रहा। सन्

1990 के बाद उभरे दलित और स्त्री विमर्श के बाद इस दौर से पहले रचे गए साहित्य को भी इस नजरिए से देखा जाने लगा है और दिलचस्प बात यह है कि जो प्रेमचन्द हमारी राष्ट्रीय अस्मिता के भारतीय किसान की अस्मिता के स्वाधीनता संग्राम की चेतना के. व्यापक मेहनतकश जनता के संघर्षों की गाथा के प्रतिनिधि भारतीय कथाकार के रूप में जाने जाते हैं। वही प्रेमचन्द अपने कथा साहित्य में दलित और स्त्री को उसके गौरवशाली और संघर्षों के सबसे सशक्त पात्रों के रूप में चित्रण के कारण दलित एवं स्त्री विमर्श के भी प्रतिनिधि भारतीय कथाकार के रूप में उभरकर सामने आते हैं।

'गोदान उपन्यास की दलित पात्र सिलिया हो या किसान स्त्री धनिया, 'ठाकुर का कुआँ' का दलित पात्र जोखू हो या फिर 'रंगभूमि' के दलित पात्र सूरदास और सुभागी या ईसाई स्त्री पात्र सोफिया, सभी पात्र प्रेमचन्द की दलित व स्त्री संघर्षों के प्रति सक्रिय सकारात्मक दृष्टि के परिचायक हैं। इस तरह 'रंगभूमि' उपन्यास भारतीय जनजीवन के स्वाधीनता संग्राम का 'राष्ट्रीय रूपक' तो प्रस्तुत करता ही है इसके साथ–साथ इस राष्ट्रीय रूपक के प्रमुख पक्ष दलितों के संघर्ष को भी बड़ा शानदार रूप में प्रस्तुत करता है।

प्रेमचन्द ने अपने सृजनात्मक साहित्य में दलित पात्रों के चित्रण के साथ–साथ 'जमाना', 'माधुरी', 'हंस', और 'जागरण', आदि पत्र पत्रिकाओं में समय–समय पर सम्पादकीय लेख एवं टिप्पणियों के रूप में भारतीय समाज में व्याप्त दलित समस्या पर गंभीरता से चिन्तन किया हैं 1933 में 'हंस', के एक अंक के मुखपृष्ठ पर प्रेमचन्द ने डा0 अम्बेडकर का चित्र छाया था, जो उन दिनों काफी बडी बात थी। विविध प्रसंग के दूसरे खण्ड में 'छूत–अछूत' शीर्षक से प्रेमचन्द के 27 लेख एवं टिप्पणियाँ संकलित हैं। इसी खण्ड में 'राष्ट्रीय रंगमंच स्वाधीनता संग्राम' शीर्षक से संकलित लेखों में अछूतपन मिटता जा रहा हैं इसमें भी प्रेमचन्द का दलित विशर्म अभिव्यक्त हुआ हैं खण्ड एक में 'पुराना जमानाः नया जमाना' तथा खण्ड तीन में 'जीवन और साहित्य में घृणा का स्थान' 'जातिभेद मिटाने की एक योजना', 'हिन्दू समाज के वीभत्स दृश्य' में भी प्रेमचन्द का दलित विषयक चिंतन उभर कर समने आया है।

प्रेमचन्द के चिन्तन परक लेखों और टिप्पणियों द्वारा प्रेमचन्द का दलित चिंतन स्पष्ट देखा जा सकेगा, साथ ही इस बात को भी देखा जा सकता है कि प्रेमचन्द के कथा साहित्य में

दलित जीवन या पात्रों का जैसा चित्रण हुआ हैं वह उनके इन लेखों के चिंतन का ही प्रतिरूप है या उससे कुछ अलग हैं फरवरी 1919 के 'जमाना' में प्रकाशित 'पुराना जमानाः नया जमाना' लेख में प्रेमचन्द ने दलित समस्या की ओर प्रत्यक्ष ध्यान तो नहीं दिलाया है लेकिन अक्तूबर 1917 की रूस की क्रान्ति की प्रशंसा करके मजदूरों की दशा की ओर ध्यान दिलाकर अपने चिंतन के जनतांत्रिक स्वरूप को अवश्य रेखांकित कर दिया।

क्या यह शर्म की बात नहीं कि जिस देश में नब्बे फीसदी आबादी किसानों की हो उस देश में कोई किसान सभा, कोई किसानों की भलाई का आन्दोलन, कोई खेती का विद्यालय, किसानों की भलाई का कोई व्यवस्थित प्रयत्न न हो। आने वाला जमाना अब किसानों और मजदूरों का है। दुनियाँ की रफ्तार इसका साफ सबूत दे रही है। हिन्दुस्तान इस हवा से बेअसर नहीं रह सकता।'' (विविध प्रसंग भाग–एक पृष्ठ 268, 1962 संस्करण)।

विविध प्रसंग–भाग तीन में संकलित प्रेमचन्द के बहुचर्चित निबंध 'जीवन और साहित्य में घृणा का स्थान' में लिखा कि उन पर उनकी रचनाओं में ब्राह्मणों के प्रति घृणा के प्रचार का आरोप है। इस आरोप को नकारते हुए प्रेमचन्द ने स्पष्ट किया है कि नीवन साहित्य समाज का खून चूसने वालों, रंगे सियारों, हथकंडेबाजों और जनता के अज्ञान से अपना स्वार्थ सिद्ध करने वालों के विरूद्ध उतने ही जोर से आवाज उठा रहे हैं और दीनों, दलितों, अन्याय के हाथ सताये हुओं के प्रति उतने ही जोर से सहानुभूति उत्पन्न करने का प्रयत्न कर रहा है।

दलित वर्ग के प्रति प्रेमचन्द की चिन्ता वास्तव में जनतांत्रिक विचारों से ओत–प्रोत है। फरवरी 1934 में लिखी टिप्पणी 'जातिभेद मिटाने की एक योजना' में प्रेमचन्द बड़े ही व्यंग्यात्मक ढंग से पूछते हैं।

''क्या हम पहले कायस्थ या ब्राह्मण या वैश्य हैं, पीछे आदमी? किसी से मिलते ही एक पहला सवाल यही करते हैं कि आप कौन साहब है। ग्रामीणों में भी यही प्रश्न पूछा जाता है– कौन ठाकुर? और हम कितने गर्व से अपने को शर्मा, वर्मा, तिवारी, चतुर्वेदी लिखते हैं कि क्या पूछना? यह इसके सिवा क्या है कि भेदभाव हमारे रक्त में सन गया है और हममें जो पक्के राष्ट्रवादी हैं वे भी अपने साम्प्रदायिकता का बिगुल बजाकर फूले नहीं समाते वरन् उसकी जरूरत ही क्या है, कि हम अपने को चतुर्वेदी या त्रिवेदी कहें। खासकर उस दशा में कि हमने

वेद की सूरत भी नहीं देखी और इसमें भी संदेह है कि हमारे पूर्वजों ने भी कभी इनके दर्शन किए थे।''

विविध प्रसंग इसी खण्ड में प्रेमचन्द ने तीन भागों में लेख श्रृंखला लिखी– 'हिन्दू समाज के वीभत्स दृश्यं'। मार्च अप्रैल 1934 में लिखी इस श्रृंखला के पहले भाग में हिन्दू समाज लाश की कैसे दुर्गति की जाती है। इस पर विस्तार से चर्चा की हैं इस लेख के दूसरे भाग में अन्धविश्वासों की जिसके चलते तीर्थस्थान 'ठगों के अड्डे और पाखण्डियों के अखाड़े' बन गए हैं और तीसरे भाग में मन्दिरों की भीतरी दुर्दशा के चित्र खींचे गए हैं– जितनी तीखी भाषा में प्रेमचन्द ने इस कटु यथार्थ को व्यक्त किया है वैसा किसी दलित लेखक ने भी नहीं किया होगा।

''इन मंदिरों की आड़ में आज बड़े–बड़े लज्जाजनक कृत्य हो रहे है। पुजारियों का, महन्तों का और धर्म गुरुओं का जीवन भयानक विलासता से भरा हुआ है। वे मंदिरों की आड़ में जघन्य कर्म करते नहीं शर्माते। ईश्वर को गाना सुनाकर खुश रखने के लिए उन्हें वेश्याएँ चाहिए। इस बहाने वे अपनी राक्षसी कामना को पूरा करते हैं और अपने जीवन को विलास–वासना और पतन के गहरे गड्ढे में डाल देते हैं। तिस पर भी हिन्दू समाज के लिए वे पूज्य हैं, माननीय है, और देव तुल्य हैं, क्योंकि वे पुजारी हैं, महन्त हैं, धर्मगुरू हैं।''

विविध प्रसंग खण्ड–दो में दलितों के प्रश्न पर अधिक विचार मिलते हैं और ये विचार गाँधी और गाँधीवाद से प्रभावित हैं। मई 1932 की छोटी सी टिप्पणी 'अछूतपन मिटता जा रहा है' में प्रेमचन्द ने कहा– ''जाति के बंधन इन कल कारखानों के युग में बहुत दिन तक नहीं रह सकते। महात्मा गाँधी अछूतों की लड़ाई लड़ रहे हैं और इस काम में उन्हें कितने ही सज्जनों का सहयोग मिल रहा है। आधी कठिनाई इसलिए बढ़ गई है कि अछूत अपने को नीच समझता है और ऊँची जातियों से दूर रहना ही अपना धर्म समझता है।'' (विविध प्रसंग खण्ड – दो पृष्ठ–93) इस टिप्पणी की पहली पंक्ति सैद्धान्तिक रूप में सही है लेकिन कल–कारखाने लगने के सौ साल से ज्यादा साल बाद तक अभी व्यावहारिक रूप में सही सिद्ध नही हो पाई हैं अन्त में अछूतों द्वारा स्वयं को नीचा समझा जाने की वृत्ति ब्राह्मण वर्ग ने 'मनुस्मृति' आदि ग्रन्थों द्वारा उनके दिमाग में कूट कूट कर भरी है। उस विषैली व खुद की दुश्मन वृत्ति से अब वे मुक्त हो

रहे हैं और इससे मुक्त होने में भूमिका गाँधीवाद की न होकर डॉ0 अम्बेडकर व उनके चिन्तन की है, जिससे प्रेमचन्द अभी कुछ दूर ही थे।

''छूत–अछूत' शीर्षक से संकलित 27 लेख भी जो 1932–34 के बीच ही लिखे गये हैं वास्तव में इन लेखों से प्रेमचन्द का दलित विशर्म अधिक साफ तरीके से उभरा है। 'छूत–अछूत' शीर्षक से पहला लेख 'महान तप' है जिसमें महात्मा गाँधी द्वारा दिसम्बर 1932 में यरवदा जेल में दलितों के लिए पृथक निर्वाचन के विरोध में भूख हड़ताल शुरु किए जाने का संदर्भ है। 19 दिसम्बर 1932 को छपे इस लेख में महात्मा गाँधी के प्रति प्रेमचन्द की श्रद्धा छलक पड़ती है– 'धन्य हो परमात्मा! राष्ट्र की सेवा में तुम पहले ही अपना सर्वस्व अर्पण कर चुके थे। एक प्राण रह गया था। उसे भी राष्ट्र को ही भेंट करने जा रहे हो।' (विविध प्रसंग खण्ड–दो पृष्ठ–437)।

हम स्वीकार करते हैं कि शूद्रों के साथ हमने अन्याय किया है। हमने उन्हें जी भर कर रौंदा, कुचला, दला। इस अन्याय ने जिस हृदय को सबसे ज्यादा दुखी किया है वह उस तपस्वी का हृदय है जिसने अपना जीवन दलित भाईयों की सेवा में ही व्यतीत किया है। (विविध प्रसंग खण्ड–दो पृष्ठ–438)। इस लेख में प्रेमचन्द पूरे तौर पर महात्मा गाँधी के विचारों का समर्थन करते हैं और दलित वर्ग या समुदाय को हिन्दू समाज का ही अंग मानते हैं– ''उनके देवता वही हैं जो सब हिन्दुओं के हैं। आदर्श वही हैं, दृष्टिकोण वहीं है। हिन्दुत्व उनके अणु–अणु में भरा हुआ है। (वही पृष्ठ–439)।

प्रेमचन्द ने 26 सितम्बर 1932 को प्रकाशित अपने लेख 'हमारा कर्त्तव्य' में प्रेमचन्द सम्मिलित निर्वाचन सम्बन्धी गाँधी– अम्बेडकर समझौते का स्वागत करते हैं व गाँधी जी के सात दिन उपवास से हासिल इस समझौते का ऐतिहासिक और अभूतपूर्व बताते हुए ब्रिटिश राजनीतिज्ञों द्वारा 'महान कौटिल्य के सीमेण्ट से तैयार' उस दीवार को ध्वस्त करना बताते हैं जो हिन्दू अछूतों को अलग करने के लिए बनाई थी। इस लेख में वे अपने पाठकों को गाँधी जी का यह वचन भी याद दिलाते हैं।'' अस्पृश्यता या छूआछूत अगर हिन्दू धर्म में हो तो मुझे कहना पड़ेगा कि उसमें शैतानियत भरी हुई है धर्म नहीं। पर मेरा दृढ़ विश्वास है कि हिन्दू धर्म में यह सब कुछ नहीं है। (वही पृष्ठ–442)।

प्रेमचन्द जी की इन दोनों लेखों से स्पष्ट है कि दलित सम्बन्धी चिंतन में वे डा0 अम्बेडकर से अधिक महात्मा गाँधी से प्रभावित थे। 14 नवम्बर 1932 को 'हरिजनों के मन्दिर प्रवेश का प्रश्न' विषय पर चिन्ता व्यक्त करते हैं कि उस समय के इस महत्वपूर्ण प्रश्न का हल यदि जल्द न किया गया तो फिर से महात्मा गाँधी अनशन शुरू कर दें। 21 नवम्बर 1932 को इसी विषय पर प्रकाशित अपने लेख में प्रेमचन्द ने बनारस के तथाकथित 'वर्णाश्रम स्वराज्यसंघ' की अछूतों के मंदिर प्रवेश के विरोध के आन्दोलन की जमकर खबर ली है। जिसके फिटन आरोही मार्तण्डों में एक पुरी के श्री 108 शंकराचार्य भी थे।' इस लेख में हिन्दू धर्म नेताओं में व्याप्त पाखण्ड की प्रेमचन्द ने धज्जियाँ उड़ाई है– ''अछूत के पैसे तो आप बेधड़क लेते हैं। अछूत कोई मंदिर बनावे, आप दल बल के साथ जाएँगे, मंदिर में देवता की स्थापना करेंगे, तर माल खाएँगें। हाँ, अछूत ने उसे छुआ न हो। दक्षिणा लेंगे कोई हर्ज नही होना चाहिए। लेकिन अछूत मंदिर में नहीं जा सकता, उससे देवता अपवित्र हो जाएँगे। (वही पृष्ठ–488)।

मुंशी प्रेमचन्द जी ने इन्हीं पाखण्डों ब्राह्मणों की खबर लेते हुए आगे लिखा– ''इसी काशी में हजारों मद्यसेवी ब्राह्मण और वह भी तिलकधारी निकल आएँगे। फिर भी वे ब्राह्मण हैं। ब्राह्माणों के घरों में चमारियाँ हैं, फिर भी उनके ब्राह्मणत्व में बाधा नहीं आती किन्तु अछूत नित्य स्नान करता हो कितना ही आचारवान हो वह मन्दिर में नहीं जा सकता। क्या इसी नीति पर हिन्दू धर्म स्थिर रह सकता है? (वही पृष्ठ–449)। इन्हीं में डॉ0 अम्बेडकर ने घोषणा की थी कि उनका जन्म तो उनके वश में नहीं था, लेकिन वे एक हिन्दू के रूप में कभी नहीं मरेंगे और मृत्यु से दो महिने पहले, लेकिन इस घोषणा के बीस वर्ष बाद 14 अक्तूबर 1956 को डॉ0 अम्बेडकर ने अकेले नहीं अपने लाखों श्रद्धालुओं के साथ हिन्दू धर्म का त्याग करके बौद्ध धर्म में दीक्षा ली। डॉ0 अम्बेडकर ने हिन्दू धर्म में सुधार का बीस वर्ष तक इंतजार किया, लेकिन देश की आजादी के दस वर्ष बाद तक भी जब हिन्दू धर्म में सुधार होता उन्हें नजर नहीं आया और अपनी सन्निकट मृत्यु के दरपेश उन्होंने अपना बचन सार्वजनिक रूप से निभाया और भारत के दलित वर्ग के सामने नया मार्ग खोला।

प्रेमचन्द की 5 दिसम्बर 1932 को प्रकाशित ढाई पंक्तियों की टिप्पणी में उन्होंने नागपुर में हरिजन बालकों के लिए अलग छात्रावास बनाने का विरोध किया। उनका विचार था कि

इससे अछूतपन मिटेगा नहीं और दृढ़ होगा। आज भारत सरकार इसी नीति पर चल रही है। 30 जनवरी 1933 को मंदिर प्रवेश पर वाइसराय के रूख की आलोचना करते हुए प्रेमचन्द ने लिखा कि मद्रास कौंसिल में श्रीयुत, सुब्बाराय को 'मन्दिर प्रवेशाधिकार सम्बन्धी बिल' पेश करने का अधिकार नहीं दिया। (वही पृष्ठ–418) ब्रिटिश उपनिवेशवाद भारत में 'फूट डालो और राज करो' नीति के तहत दलित समस्या का भी लाभ उठा रहा था।

असेम्बलियों में दलित 'पृथक निर्वाचन' क्यों चाहते थे, इसका एक उदाहरण प्रेमचन्द ने 10 अप्रैल 1933 को अपनी टिप्पणी में स्वयं ही दे दिया है– ''महात्मा गाँधी की अनशन के दबाव के आगे डॉ0 अम्बेडकर ने ''सम्मिलित निर्वाचन'' स्वीकार कर लिया लेकिन बम्बई कार्पोरेशन के चुनाव में एक हरिजन 'श्री देव रूखकर' को सवर्ण हिन्दूओं ने जैसे हराया उससे प्रेमचन्द को तो ठेस पहुँची लेकिन उन्होंने यह स्वीकार नहीं किया कि पृथक निर्वाचन की बात सही थी। हालाँकि उन्होंने इस टिप्पणी के अन्त में चेतावनी दे दी– ''अगर सजातीय हिन्दू इस तरह हरिजन उम्मीदवारों को हतोत्साहित करते रहे तो आपस में वैमस्य और असन्तोष बढ़ेगा और पूना के समझौते का जो उद्देश्य था वह गायब हो जायेगा'' (वही पृष्ठ–461)।

हरिजनों या दलितों के मन्दिर प्रवेश के अधिकार और आन्दोलन को लेकर प्रेमचन्द ने कई लेख लिखे हैं। 8 जनवरी 1934 को एक लम्बा लेख क्या हम राष्ट्रवादी है? उपशीर्षक – टके पंथी पुजारी, पुरोहित और पंडे हिन्दू जाति के कलंक हैं लिखा। इस लेख में प्रेमचन्द ने साम्प्रदायिकता और जातिवाद को राष्ट्रवाद का घोर विरोधी बताते हुए लिखा ''हिन्दू जाति का सबसे घृणित कोढ़, सबसे लज्जाजनक कलंक यही टकेपंथी दल है जो एक विशाल जोंक की भाँति उसका खून चूस रहा है और हमारी राष्ट्रीयता के मार्ग में यही सबसे बड़ी बाधा है। राष्ट्रीयता की पहली शर्त है, समाज में साम्यभाव का दृढ़ होना। उसके बिना राष्ट्रीयता की कल्पना नहीं की जा सकती।'' (यही पृष्ठ–471)। मुंशी प्रेमचन्द अपनी अवधारणा 'राष्ट्रीयता की व्याख्या करते हुए व्यक्त करते हैं– ''हम जिस राष्ट्रीयता का स्वप्न देख रहे हैं उसमें तो जन्मगत वर्णों की गन्ध तक न होगी। वह हमारे श्रमिकों और किसानों का साम्राज्य होगा, जिसमें न कोई ब्राह्मण होगा, न हरिजन न कायस्थ न क्षत्रिय। उसमें सभी भारतवासी होंगे सभी ब्राह्मण होंगे या सभी हरिजन होंगे। (वही पृष्ठ–473)।

प्रेमचन्द ने अपने लेख में पं0 ज्योति प्रसाद निर्मल द्वारा अपने ऊपर लगाए गये आरोपों का उत्तर भी दिया। ''निर्मल जी हमें ब्राह्मण विरोधी बताकर सन्तुष्ट नहीं हुए उन्होंने हमें हिन्दू द्रोही भी सिद्ध किया है क्योंकि हमने अपनी रचनाओं में मुसलमानों को अच्छे रूप में दिखाया है। तो क्या आप चाहते हैं कि हम मुसलमानों को भी उसी तरह चित्रित करें जिस तरह पुरोहितों और पाखण्डियों को करते हैं? हमारा आदर्श सदैव से यह रहा है कि जहाँ धूर्तता और पाखण्ड और सबलों द्वारा निर्बलों पर अत्याचार देखें, उसको समाज के सामने रखो चाहे हिन्दू हो, पण्डित हो बाबू हो, मुसलमान हो या कोई हो। इसलिए हमारी कहानियों में आपको पदाधिकारी, महाजन, वकील और पुजारी गरीबों का खून चूसते हुए मिलेंगे और गरीब किसान मजदूर अछूत और दरिद्र उनके आघात सहकर भी अपने धर्म और मनुष्यता को हाथ से न जाने देंगे। क्योंकि हमने उन्हीं में सबसे ज्यादा सच्चाई और सेवाभाव पाया है।'' (वही पृष्ठ–475)।

दलित चिंतन पर 8 जनवरी को प्रकाशित प्रेमचन्द का यह लेख भविष्य की भारतीय समाज व्यवस्था की अवधारणा को समझने के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण है। दलितों की समस्या सम्बन्धी इस लेख में प्रेमचन्द के विचार महात्मा गाँधी के विचारों से भी आगे बढ़े हुए दिखाई देते हैं।

''छूत–अछूत शीर्षक से लेखमाला की अंतिम टिप्पणी 14 मई 1934 को प्रकाशित है जो एक साथ बेहद कटु और मार्मिक दोनों है। लेख का शीर्षक है– ''इस हिमाकत की कोई हद है?'' लेख में शुरु का वाक्य है। :

''छूआछूत और जातपाँत का भेद हिन्दू समाज में इतना बहुमूल्य हो गया है कि शायद उसका सर्वनाश करके ही छोड़े। खबर है कि किसी स्थान में एक कुलीन हिन्दू स्त्री कुएँ पर पानी भरने गई। संयोगवश कुएँ में गिर पड़ी। बहुत से लोग तुरन्त कुएँ पर जमा हो गए और उस औरत को बाहर निकालने का उपाय सोचने लगे मगर किसी में इतना साहस नहीं था कि कुएँ में उतर जाता। वहाँ कई हरिजन भी जमा हो गये थे। वे कुएँ में जाकर उस स्त्री को निकाल लाने को तैयार हुए लेकिन हरिजन कुएँ में कैसे जा सकता था। पानी अपवित्र हो जाता, नतीजा यह हुआ कि अभागिनी स्त्री कुएँ में मर गयी।'' प्रेमचन्द का निष्कर्ष वाक्य है– ''क्या छूत का भूत कभी हमारे सिर से न उतरेगा?

प्रेमचन्द का गाँधीवादी विचारों से मोहभंग 1934 के आस पास ही होना शुरू हुआ था और 1936 में तो वह पूरी तरह से उनसे मुक्त हो गए थे। जिसकी थोड़ी बहुत अभिव्यक्ति वे केवल अधूरे उपन्यास 'मंगलसूत्र' में ही पाए। इस प्रसंग को मदन गोपाल ने प्रेमचन्द की जीवनी 'कलम का मजदूर में संक्षेप में दर्ज किया हैं कुल मिलाकर प्रेमचन्द का जीवन व्यक्तित्व व चिंतन एक निरंतर संघर्ष की गाथा है। जो गुण के स्तर पर उच्च से उच्चतर की ओर गया है। उनके चिंतन और लेखन का मूल तत्व मानवतावाद और विवेकशील जनतांत्रिक भावना थी। उनके लेखन में दलित चिंतन इतना प्रखर है कि उनकी जाति सम्बन्धी जानकारी न हो तो उसे किसी दलित पृष्ठभूमि के लेखक की रचना समझा जा सकता हैं उनके चिंतनपरक लेख में व्यक्त दलित विमर्श गाँधीवाद से प्रभावित है लेकिन वह इन सीमाओं के पार छलांग लगाने की चेष्टाएँ करता रहता है।

———0———